चंद तस्वीर-ए-बुताँ[1]

लेखकः मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी

(यह एक हास्य-व्यंग्य लेख है जो मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी की पुस्तक ख़ाकम बदहन (मेरे मुँह में ख़ाक) से लिया गया है। इसमें लेखक ने अपनी फ़ोटोग्राफ़ी में रूचि और मुफ़्त फ़ोटो खिंचवाने वालों के हाथों कष्ट झेलने और उनसे जन्मी हास्यपूर्ण स्थितियों का वर्णन किया है। निबंध में 'मिर्ज़ा' का उल्लेख भी हुआ है। मिर्ज़ा जिनका पूरा नाम मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग है, यूसुफ़ी के मित्र या हमज़ाद (छायापुरुष) के रूप में उनकी लगभग सभी रचनाओं में मौजूद हैं। आम तौर पर रचनाओं में उनका कोई कथन या टिप्पणी उद्धृत की जाती है। मिर्ज़ा अपनी विचित्र दलीलों और ऊटपटांग विचारों के लिए जाने जाते हैं। यूसुफ़ी अपनी अकथनीय, उत्तेजक और गुस्ताख़ाना बातें मिर्ज़ा की ज़ुबान से कहलवाते हैं। यह किरदार हमें मुल्ला नसरुद्दीन की याद दिलाता है।

बात से बात निकालना, लेखनी के हाथों में खुद को सौंपकर मानो केले के छिलके पर फिसलते जाना अर्थात विषयांतर, हास्यास्पद परिस्थितियों का निर्माण, अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन, किरदारों की सनक और विचित्र तर्कशैली, एक ही वाक्य में असंगत शब्दों का जमावड़ा, शब्द-क्रीड़ा, अनुप्रास अलंकार, हास्यास्पद उपमाएं व रूपक, अप्रत्याशित मोड़, कविता की पंक्तियों का उद्धरण, पैरोडी और मज़ाक़ की फुलझड़ियों व हास्य रस की फुहारों के बीच साहित्यिक संकेत व दार्शनिक टिप्पणियाँ, और प्रखर बुद्धिमत्ता यूसुफ़ी साहब की रचना शैली की विशेषताएँ हैं। उनके फ़ुटनोट भी बहुत दिलचस्प होते हैं। इस निबंध में यूसुफ़ी साहब की रचना शैली की अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं।-----अनुवादक)

सीखे हैं महरुख़ों के लिए.....[2]

उर्दू ग़ज़ल के इमाम मौलाना 'हसरत' मोहानी[3] ने अपनी शायरी के तीन रंग बताए हैं। फ़ासिक़ाना (कामुक), आशिक़ाना (प्रेमयुक्त) और आरिफ़ाना (आध्यात्मिक)। मौलाना की तरह जेल में चक्की की मशक़्क़त तो बड़ी बात है, मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग ने तो शायरी की मश्क़ (अभ्यास) से भी अपने मस्तिष्क को बोझिल नहीं किया। लेकिन वो भी अपनी कला (फ़ोटोग्राफ़ी) को इन्ही तीन घातक कालों में विभाजित करते हैं। यह और बात है कि उनके यहाँ यह क्रम बिल्कुल उल्टा है। रहा हमारा मामला, तो अभी हम 'रुसो' की तरह इतने महान आदमी नहीं हुए कि अपने ऊपर ऐलानिया व्यभिचार व कुकर्म का लांछन लगाने के बाद भी अपने और पुलिस के बीच एक सम्मानपूर्ण फ़ासला क़ायम रख सकें। लेकिन यह सच है कि मिर्ज़ा की तरह हम भी कला के घायल हैं और हमारा नाता भी इस कला से इतना ही पुराना है। क्योंकि जहाँ तक याद पड़ता है, तख़्ती पर *क़लम गोयद कि मन शाह-ए-जहानम (क़लम कहता है कि मैं चक्रवर्ती सम्राट हूँ)* लिख-लिखकर खुद को गुमराह करने से पहले हम डिक-बराउनी कैमरे का बटन दबाना सीख चुके थे। लेकिन जिस दिन से मिर्ज़ा की एक नंगी खुली तस्वीर (जिसे वे फ़िगर-स्टडी कहते हैं) को लंदन की एक पत्रिका ने प्रकाशित किया, हमारी बेहुनरी (अयोग्यता) के नए-नए पहलू उन पर प्रकट होते रहते हैं।

मिर्ज़ा जब से बोलना सीखे हैं, अपनी ज़ुबान को हमारे वजूद पर वर्ज़िश कराते रहते हैं। और अक्सर संकेत व रूपक द्वारा साधारण गाली-गलौज में साहित्यिक वैभव पैदा कर देते हैं। अभी कल की बात है। कहने लगे, "यार! बुरा न मानना। तुम्हारी कला में कोई करवट, कोई पेच, मेरा मतलब है, कोई मोड़ नज़र नहीं आता।"

हमने कहा, "प्लाट तो उर्दू उपन्यासों में हुआ करता है। ज़िन्दगी में कहाँ?"

बोले हाँ, "ठीक कहते हो। तुम्हारी अक्कासी (फ़ोटोग्राफ़ी) भी तुम्हारी ज़िंदगी ही का अक्स (प्रतिबिम्ब) है। अर्थात आरम्भ से अंत तक अपमान की एक अनुपम शैली!"

हालाँकि हमारा कला-कौशल हमारे कुछ काम न आया, लेकिन यही क्या कम है कि मिर्ज़ा जैसे प्रबुद्ध कान पकड़ते हैं और हमारे तुच्छ जीवन को उच्च शैक्षणिक उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल करते हैं। यानी इसे सामने रखकर अपनी संतान को सबक़ सिखाते हैं, चेतावनी देते हैं और डाँटते-फटकारते हैं। इन पृष्ठों में हम अपनी जीवन शैली की तर्कसंगत व्याख्या करके पढ़ने वालों के हाथ में असफलता की कुंजी नहीं देना चाहते। अलबत्ता इतना ज़रूर अर्ज़ करेंगे कि मिर्ज़ा की तरह हम अपनी नालायक़ी को क्रमिक विकास के कालों में विभाजित तो नहीं कर सकते हैं, लेकिन जो सज्जन हमारी निकम्मी रूचि की दास्तान पढ़ने की क्षमता रखते हैं, वे देखेंगे कि हम हमेशा से हाजियों के पासपोर्ट फ़ोटो और ऐतिहासिक खंडहरों की तस्वारें ही नहीं खींचते रहे हैं।

गुज़र चुकी है यह फ़स्ल-ए-बहार हम पर भी

लेकिन हम किस गिनती-शिनती में हैं। मिर्ज़ा अपने आगे बड़े-बड़े फ़ोटोग्राफ़रों को तुच्छ समझते हैं। एक दिन हमने पूछा, "मिर्ज़ा! दुनिया में सबसे बड़ा फ़ोटोग्राफ़र कौन है? यूसुफ़ कार्श या सेसिल बीटन?" मुस्कुराते हुए बोले, "तुमने वह कहानी नहीं सुनी? किसी नादान ने मजनूँ से पूछा, 'ख़िलाफ़त पर हक़ हज़रत हुसैन का है या यज़ीद मलऊन का?' बोला, 'अगर सच पूछो तो लैला का है!'"

इधर कुछ वर्षों से हमने यह मामूल (नियम) बना लिया है कि हफ़्ता भर की मानसिक ऊहापोह के बाद इतवार को "मुकम्मल सब्त" मनाते हैं और शनिवार की मुरादों भरी शाम से सोमवार की मनहूस सुबह तक हर वह गतिविधि अपने ऊपर हराम कर लेते हैं, जिसमें काम की तनिक भी शंका या कमाई की ज़रा भी आशंका हो। छह दिन दुनिया के, एक दिन अपना।(मिर्ज़ा तो इतवार के दिन इतना आज़ाद और खुला-खुला महसूस करते हैं कि फ़जर (भोर) की नमाज़ के बाद दुआ नहीं माँगते और सोमवार के ख़याल से उनका जी इतना उलझता है कि एक दिन कहने लगे, इतवार अगर सोमवार के दिन हुआ करता तो कितना अच्छा होता!) यह बात नहीं कि हम मेहनत से जी चुराते हैं। जिस काम (फ़ोटोग्राफ़ी) में इतवार गुज़रता है, उसमें तो मेहनत उतनी ही पड़ती है जितनी दफ़्तरी काम में। लेकिन फ़ोटोग्राफ़ी में दिमाग़ भी इस्तेमाल करना पड़ता है और 'मॉडल' अगर चंचल बच्चे हों तो न सिर्फ़ ज़्यादा बल्कि बार-बार इस्तेमाल करना पड़ता है। इससे बचने के लिए मिर्ज़ा ने अब हमें उस्तादी के कुछ गुर सिखा दिए हैं। मसलन एक तो यही कि पंछियों और बच्चों की तस्वीर खींचते समय सिर्फ़ आँख पर फ़ोकस करना चाहिए कि उनका सारा व्यक्तित्व खिंचकर आँख की चमक में आ जाता है और जिस दिन उनकी आँख में यह चमक न रही, दुनिया अंधेर हो जाएगी। दूसरे यह कि जिस

बच्चे पर तुम्हें प्यार न आए उसकी तस्वीर हर्गिज़ न खींचो। फ़्रांस में एक नफ़ासत-पसंद चित्रकार गुज़रा है जो कुलीन घोड़ों की तस्वीरें पेंट करने में सिद्धहस्त था। कला की गरिमा उसे इतनी अधिक प्रिय थी कि जो घोड़ा दोग़ला या बीस हज़ार फ़्रेंक से कम क़ीमत का हो, उसकी तस्वीर हर्गिज़ नहीं बनाता था, चाहे उसका मालिक बीस हज़ार मेहनताना ही क्यों न पेश करे।

महीना याद नहीं रहा। संभवतः दिसंबर था। दिन अलबत्ता याद है, इसलिए कि इतवार था और उपर्युक्त स्वर्णिम सिद्धांतों से लैस, हम अपने ऊपर साप्ताहिक आत्म-विस्मरण तारी किए हुए थे। घर में हमारे प्रिय पड़ोसी की बच्ची नाज़िया, अपनी सैफ़ो (सियामी बिल्ली) की आदम-क़द तस्वीर खिंचवाने आई हुई थी। आदम-क़द से मतलब शेर के बराबर थी। कहने लगी,

"अंकल! जल्दी से हमारी बिल्ली का फ़ोटो खींच दीजिए। हम अपनी गुड़िया को अकेला छोड़ आए हैं। कल सुबह से बेचारी के पेट में दर्द है। जभी तो कल हम स्कूल नहीं गए।"

हमने झटपट कैमरे में तेज़ रफ़्तार फ़िल्म डाली। तीनों "फ़्लड लैम्प" ठिकाने से अपनी-अपनी जगह रखे। फिर बिल्ली को दबोच-दबोच के मेज़ पर बिठाया और उसके मुँह पर मुस्कान लाने के लिए नाज़िया पलास्टिक का चूहा हाथ में पकड़े सामने खड़ी हो गई। हम बटन दबाकर 1/100 सेकेंड में इस मुस्कान को अमरत्व प्रदान करने वाले थे कि फाटक की घंटी इस ज़ोर से बजी कि सैफ़ू उछलकर कैमरे पर गिरी और कैमरा क़ालीन पर। दोनों को इसी हालत में छोड़कर हम असमय आने वालों के स्वागत को दौड़े।

हज का सवाब भेंट करूँगा हुज़ूर की

फाटक पर शेख़ मोहम्मद शम्सुलहक़ खड़े मुस्कुरा रहे थे। उनकी बग़ल से रुई के दगले में लिपटे-ढके एक बुज़ुर्ग प्रकट हुए, जिन पर नज़र पड़ते ही नाज़िया ताली बजा के कहने लगी,

"हाय! कैसा क्यूट सेंटा क्लाज़ है!"

ये शेख़ मोहम्मद शम्सुलहक़ के माननीय मामूँ जान क़िबला निकले, जो हज को तशरीफ़ ले जा रहे थे और अपने दोनों लोकों के सुधार कार्यक्रम में हमें भी शरीक करने के लिए मौज़ा चाक्सू (खुर्द) से अपना पासपोर्ट फ़ोटो खिंचवाने आए थे।

"मामूँ जान तो अड़े थे कि फ़ोटोग्राफ़र के पास ले चलो। भले ही पैसे लग जाएँ, तस्वीर तो ढंग की आएगी। बड़ी मुश्किलों से माने हैं यहाँ आने पर" उन्होंने उनके दिव्य-आगमन की पृष्ठिभूमि बयान की।

ड्राइंग रूम में दाख़िल होते ही शेख़ मोहम्मद शम्सुलहक़ साहब के माननीय मामूँ जान क़िब्ला दीवारों पर पंक्तिबद्ध तस्वीर-ए-बुताँ को आँखें फाड़-फाड़ के देखने लगे। हर तस्वीर को देखने के बाद मुड़कर एक दफ़ा हमारी सूरत ज़रूर देखते। फिर दूसरी तस्वीर की बारी आती। और एक दफ़ा फिर हम पर वह निगाह डालते, जो किसी तरह उचटती हुई न थी। जैसी दृष्टि से वे ये तस्वीरें देख रहे थे, उनसे प्रकट होता था कि देखने वाले

का सम्बन्ध उस पीढ़ी से है जिसने कलदार रूपये पर बनी हुई महारानी विक्टोरिया के बाद किसी स्त्री की तस्वीर नहीं देखी। एक बाँकी सी तस्वीर को थोड़ा क़रीब जाकर देखा। लाहौल पढ़ी और पूछा,

"यह आपके लड़के ने खींची है?"

अर्ज़ किया, "जी, नहीं! वह तो तीन साल से सातवीं में पढ़ रहा है।"

बोले, "हमारा भी यही ख़याल था, मगर एहतियातन पूछ लिया।"

शेख़ मोहम्मद शम्सुलहक़ साहब के माननीय मामूँ जान क़िब्ला (अपनी और कातिब की सुविधा हेतु आइंदा उन्हें सिर्फ़ 'मामूँ' लिखा जाएगा। जिन पाठकों को हमारी संक्षिप्तता नागवार गुज़रे, वे हर दफ़ा 'मामूँ' के बजाए 'शेख़ मोहम्मद शम्सुलहक़ साहब के माननीय मामूँ जान क़िब्ला,' पढ़ें) हमारे मार्गदर्शन के लिए अपने स्वर्गीय ताया अब्बा की एक मिटी-मिटाई तस्वीर साथ लाए थे। शीशम के फ़्रेम को मेहंदी रंग के अंगोछे से झाड़ते हुए बोले,

"ऐसी खींच दीजिए,"

हमने तस्वीर को ध्यान से देखा तो पता चला कि मामूँ के ताया अब्बा भी वही रुई का दगला पहने खड़े हैं, जिस पर उल्टी केरियाँ बनी हुई हैं। तलवार को बड़ी मज़बूती से पकड़ रखा है ——झाड़ू की तरह। अर्ज़ किया,

"क़िब्ला पास्पोर्ट फ़ोटो में तलवार की इजाज़त नहीं।"

फ़रमाया, "आप को हमारे हाथ में तलवार नज़र आ रही है?"

हम बहुत शर्मिंदा हुए। इसलिए कि मामूँ के हाथ में वाक़ई कुछ न था। सिवाय एक अघातक गुलाब के, जिसे सूंघते हुए वे पास्पोर्ट फ़ोटो खिंचवाना चाहते थे। मामूँ के कान उर्दू के अक्षर 'तो' (ٹ) की तरह थे —— बाहर को निकले हुए। इससे यह न समझा जाए कि हम शारीरिक दोषों का मज़ाक़ उड़ा रहे हैं। दरअसल इस उपमा से हमारा उद्देश्य कानों की उपयोगिता दिखाना है। क्योंकि खुदा-न-ख़्वास्ता कानों की बनावट ऐसी न होती तो उनकी तुर्की टोपी सारे चेहरे को ढांक लेती। आरंभिक तैयारियों के बाद बड़ी चिरौरी से उन्हें फ़ोटो के लिए कुर्सी पर बिठाया गया। किसी तरह नहीं बैठते थे। कहते थे,

"भला यह कैसे हो सकता है कि आप खड़े रहें और मैं बैठ जाऊँ,"

खुदा-खुदा करके वे बैठे तो हमने देखा कि उनकी गर्दन हिलती है। स्पष्ट है हमें प्राकृतिक कंपन पर क्या आपत्ति हो सकती है। असल मुसीबत यह थी कि गर्दन अगर दो सेकेंड हिलती तो टोपी का फुंदना दो मिनट तक हिलता रहता। दोनों प्रक्रियाओं के एक दुर्लभ अंतराल में हमने "रेडी" कहा तो जैसे आलम ही कुछ और था। एक दम अकड़ गए और ऐसे अकड़े कि जिस्म पर कहीं भी हथौड़ी मारकर देखें तो टन-टन आवाज़ निकले। डेढ़ दो मिनट बाद तीसरी दफ़ा 'रेडी' कहकर कैमरे के दृश्यदर्शी (VIEW-FINDER) से देखा तो चेहरे से ख़ौफ़ आने लगा। गर्दन पर एक रस्सी जैसी रग न जाने कहाँ से उभर आई थी। चेहरा लाल। आँखें उससे ज़्यादा लाल। एकाएक एक अजीब आवाज़ आई। अगर हम उनके मुँह की तरफ़ न देख रहे होते तो यक़ीनन यही समझते कि किसी ने साईकल की हवा निकाल दी है।

"अब तो साँस लेलूँ?" सारे कमरे की हवा अपनी नाक से पम्प करते हुए पूछने लगे।

अब सवाल यह नहीं था कि तस्वीर कैसी और किस पोज़ में खींची जाए। सवाल यह था कि उनकी श्वास-प्रक्रिया कैसे बरक़रार रखी जाए कि तस्वीर भी खिंच जाए और हम जानबूझकर हत्या करने के अपराधी भी न हों। अपनी निगरानी में उन्हें दो चार ही साँस लिवाए थे कि मस्जिद से मुअज़्ज़िन की आवाज़ बुलंद हुई और पहली 'अल्लाहु-अकबर' के बाद, मगर दूसरी से पहले, मामूँ कुर्सी से हड़बड़ा के उठ खड़े हुए। शीशे के जग से वज़ू किया।

पूछा, "क़िब्ला (काबा) किस तरफ़ है?"

हमारे मुँह से निकल गया "पच्छिम की तरफ़।"

फ़रमाया, "हमारा भी यही ख़याल था, मगर एहतियातन पूछ लिया।"

इसके बाद जानमाज़ तलब की।

मामूँ पलंगपोश पर ज़ोहर (दोपहर) की नमाज़ के लिए खड़े हुए। अंत में ऊँची आवाज़ में दुआ माँगी, जिसे वे लोग, जिनका ईमान कुछ कमज़ोर हो, फ़रमाइश की फ़ेहरिस्त कह सकते हैं। नमाज़ से फ़ुर्सत पाई तो हमें मुख़ातिब करके बड़ी नर्मी से बोले, "चार फ़र्ज़[4] के बाद दो सुन्नतें पढ़ी जाती हैं। तीन सुन्नतें किसी नमाज़ में नहीं पढ़ी जातीं। कम-से-कम मुसलमानों में!"

दूसरे कमरे में खाने व क़ैलूला (दोपहर के भोजन के बाद आराम) के बाद चाँदी की ख़िलाल (दन्तखुदनी) से पुरानी आदत के अनुसार अपने नक़ली दाँतों की दरारें कुरेदते हुए बोले,

"बेटा! तुम्हारी बीवी बहुत सुघड़ है। घर बहुत ही साफ़-सुथरा रखती है। बिल्कुल हस्पताल लगता है।"

इसके बाद उनकी और हमारी दारुण यातना फिर शुरू हुई।

हमने कहा, "अब थोड़ा रिलैक्स (RELAX) कीजिए।"

बोले, "कहाँ करूँ?"

कहा,"मेरा मतलब है, बदन ज़रा ढीला छोड़ दीजिए और यह भूल जाइए कि कैमरे के सामने बैठे हैं।"

बोले,"अच्छा ! यह बात है!"

फ़ौरन बंधी हुई मुट्ठियाँ खोल दीं। आँखें झपकाईं और फेफड़ों को अपनी प्राकृतिक क्रिया फिर आरम्भ करने की अनुमति दी। हमने इस "नेचुरल पोज़" से लाभ उठाने के लिए दौड़-दौड़कर हर चीज़ को अंतिम "टच" दिया, जिसमें यह बंधा-टका जुमला भी शामिल था,"इधर देखिए। मेरी तरफ़। ज़रा मुस्कुराइए!" बटन दबाकर हम "शुक्रिया" कहने वाले थे कि यह देखकर ईरानी क़ालीन पैरों तले से निकल गया कि वे हमारे कहने से पहले ही ख़ुदा जाने कब से रिलैक्स करने के लिए अपनी बत्तीसी हाथ में लिए हँसे चले जा रहे थे।

हमने कहा, "साहब! अब न हँसिए!"

बोले, "तो फिर आप सामने से हट जाइए!"

हमें उनके सामने से हटने में ज़्यादा सोच विचार नहीं करना पड़ा। इसलिए कि उसी समय नन्हीं नाज़िया दौड़ी-दौड़ी आई और हमारी आस्तीन का कोना खींचते हुए कहने लगी,

"अंकल! हरी अप! प्लीज़! जानमाज़ पे बिल्ली पंजों से वज़ू कर रई है! हाय अल्लाह! बड़ी क्यूट लग रई है!"

फिर हम उस दृश्य की तस्वीर खींचने और मामूँ लाहौल पढ़ने लगे।

अगले इतवार को हम प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस के फ़ोटो की "री टचिंग" में जुटे हुए थे। पतलून की पंद्रहवीं सिलवट पर कलफ़ इस्त्री करके हम अब होंठ का मस्सा छिपाने के लिए शून्य नंबर के ब्रश से मूँछ बनाने वाले थे कि इतने में मामूँ अपनी तस्वीरें लेने आ धमके। तस्वीरें कैसी आईं, इसके बारे में हम अपने मुँह से कुछ नहीं कहना चाहते। संवाद स्वयं चटाक-पटाक बोल उठेगा:

"हम ऐसे हैं?"

"क्या अर्ज़ करूँ!"

"तुम्हें किसने सिखाया तस्वीर खींचना?"

"जी! खुद ही खींचने लग गया।"

"हमारा भी यही ख़याल था। मगर एहतियातन पूछ लिया।"

"आख़िर तस्वीर में क्या ख़राबी है?"

"हमारे ख़याल में यह नाक हमारी नहीं है।"

हमने उन्हें सूचित किया कि उनके ख़ायल और उनकी नाक में कोई तालमेल नहीं है। इस पर उन्होंने यह जानना चाहा कि अगर तस्वीर को खूब बड़ा किया जाए, तब भी नाक छोटी नज़र आएगी क्या?

लाभदायक नसीहत

दूसरे दिन मिर्ज़ा एक नई शैली के होटल "मांटी कार्लो" के बाल रूम में उतारी हुई तस्वीर दिखाने आए और हर तस्वीर पर हमसे इस तरह दाद उसूल की जैसे मराठे चौथ उसूल किया करते थे। यह स्पेन की एक स्ट्रिपटीज़ डांसर (जिसे मिर्ज़ा आंदालूसी नृत्यांगना कहे चले जा रहे थे) की तस्वीरें थीं, जिन्हें नग्न तो नहीं कहा जा सकता था। इसलिए कि सफ़ेद दस्ताने पहने हुए थी। गर्म कॉफ़ी और बेसमझी-बूझी सराहना से उनके मन में आनंद की तरंगें उठने लगीं तो मौक़ा ग़नीमत जानकर हमने मामूँ की ज़्यादतियाँ सुनाईं और मशवरा माँगा। अब मिर्ज़ा में बड़ी पुरानी कमज़ोरी यह है कि उनसे कोई मशवरा माँगे तो हाँ में हाँ मिलाने के बजाए सचमुच मशवरा ही देने लग जाते हैं। फिर यह भी कि हमारी सूरत में कोई ऐसी बात ज़रूर है कि हर शख़्स का अनायास नसीहत करने को जी चाहता है। चुनांचे फिर शुरू हो गए,

"साहब! आप को फ़ोटो खींचना आता है, फ़ोटो खिंचवाने वोलों से निपटना नहीं आता। सलामती चाहते हो तो कभी अपने सामने फ़ोटो देखने का मौक़ा न दो। बस मोटे लिफ़ाफ़े में बंद करके हाथ में थमा दो और चलता करो। विक्टोरिया रोड के चौराहे पर जो फ़ोटोग्राफ़र है। लहसुनिया दाढ़ी वाला। अरे भई! वही जिसकी नाक पर चाक़ू का निशान है। आगे का दाँत टूटा हुआ है। अब उसने बड़ा प्यारा उसूल बना लिया है। जो गाहक दुकान पर अपनी तस्वीर न देखे, उसे बिल में 25 फ़ीसद नक़द रिआयत देता है और एक तुम हो कि

मुफ़्त तस्वीर खींचते हो और शहर भर के बदसूरतों से गालियाँ खाते फिरते हो। आज तक ऐसा नहीं हुआ कि तुमने किसी की तस्वीर खींची हो और वह हमेशा के लिए तुम्हारा जानी-दुश्मन न बन गया हो।"

संतान-बहुलता और यह तुच्छ पापी

नसीहत की धुन में मिर्ज़ा यह भूल गए कि दुश्मनों की सूची में वृद्धि करने में खुद उन्होंने हमारा काफ़ी हाथ बटाया है, जिसका अनुमान अगर आपको नहीं है तो आने वाली घटनाओं से हो जाएगा। हमसे कुछ दूर पी.डब्ल्यु.डी.के एक सुप्रसिद्ध ठेकेदार तीन कोठियों में रहते हैं। मार्शल-लॉ के बाद से बेचारे इतने दयालु हो गए हैं कि बरसात में कहीं से भी छत गिरने का समाचार आए, उनका कलेजा धक से रह जाता है। हुलिया हम इसलिए नहीं बताएँगे कि इसी बात पर मिर्ज़ा से बुरी तरह डाँट खा चुके हैं —"नाक फ़िलिप्स के बल्ब जैसी, आवाज़ में बैंक बैलेंस की खनक, शरीर सुन्दर सुराही की मानिंद —यानी बीच से फैला हुआ....." हमने आउटलाइन ही बनाई थी कि मिर्ज़ा घायल स्वर में बोले, "बड़े हास्यकार बने फिरते हो। तुम्हें इतना भी मालूम नहीं कि शारीरिक दोषों की खिल्ली उड़ाना हास्य-व्यंग्य नहीं।" करोड़पति हैं, मगर इनकम-टैक्स के डर से अपने को लखपती कहलवाते हैं। ईश्वर ने उनके स्वभाव में कंजूसी कूट-कूटकर भर दी है। रूपया कमाने को तो सभी कमाते हैं। वे रखना भी जानते हैं। कहते हैं, आमदनी बढ़ाने का आसान उपाय यह है कि ख़र्च घटा दो। मिर्ज़ा से सुना है कि उन्होंने अपनी बड़ी बेटी को इस वजह से दहेज नहीं दिया कि उसकी शादी एक ऐसे आदमी से हुई, जो खुद लखपति था और दूसरी बेटी को इसलिए नहीं दिया कि उसका दूल्हा दिवालिया था। साल छह महीने में नाक की कील तक बेच खाता। मतलब यह कि लक्ष्मी घर की घर में रही।

हाँ तो इन्ही ठेकेदार साहब का ज़िक्र है, जिनकी चल व अचल और विवाहिता व अविवाहिता संपत्ति का चित्र रंगीन-बयान कवि ने एक पंक्ति में खींचकर रख दिया हैः

एक-एक घर में सौ-सौ कमरे, हर कमरे में नार

इस सुन्दर सूरतेहाल के नतीजे अक्सर हमें भुगतने पड़ते हैं। वह इस तरह कि हर नवजात के अक़ीक़ा और पहले जन्मदिन पर हमीं से यादगार तस्वीर खिंचवाते हैं और यही क्या कम है कि हमसे कुछ नहीं लेते। इधर ढाई तीन साल से इतनी कृपादृष्टि और रखने लगे हैं कि जैसे ही परिवार-नियोजन-भंजन की शुभघड़ी निकट आती है तो एक नौकर दाई को और दूसरा हमें बुलाने दौड़ता है। बल्कि एकाध दफ़ा तो ऐसा भी हुआ कि "*वह जाती थी कि हम निकले*"। जिन हज़रात को इस बयान में पड़ोसी की शरारत का असर नज़र आए, वे ठेकेदार साहब के अलबम देख सकते हैं। हमारे हाथ की एक नहीं, दर्जनों तस्वीरें मिलेंगी, जिनमें महोदय कैमरे की आँख में आँखें डालकर नवजात के कान में अज़ान देते हुए नज़र आते हैं।

आए दिन की प्रसूतियाँ झेलते-झेलते हम हलकान हो चुके थे, मगर संकोच और लिहाज़ की वजह से ख़ामोश थे। बुद्धि काम नहीं करती थी कि इस शौक़िया धंधे को किस तरह बंद किया जाए। मजबूरन (अंग्रेज़ी मुहावरे के अनुसार) मिर्ज़ा का सहारा लेना पड़ा। दारुण दास्तान सुनकर बोले,

"साहब! इन सब परेशानियों का हल एक फूलदार फ़्रॉक है।"

हमने कहा, "मिर्ज़ा! हम पहले ही सताए हुए हैं। हमसे यह एब्सट्रेक्ट गुफ़्तगू तो न करो।"

बोले, "तुम्हरी ढलती जवानी की क़सम! मज़ाक़ नहीं करता। तुम्हारी तरह पड़ोसियों के जिगर के टुकड़ों की तस्वीरें खींचते-खींचते अपना भी भुरकस निकल गया था। फिर मैंने तो यह किया कि एक फूलदार फ़्रॉक ख़रीदी और उसमें एक नवजात शिशु की तस्वीर खींची और उसकी तीन दर्जन कापियाँ बनाकर अपने पास रख लीं। अब जो कोई अपने नवजात के फ़ोटो की फ़रमाइश करता है तो यह शर्त लगा देता हूँ कि अच्छी तस्वीर चाहिए तो यह ख़ूबसूरत फूलदार फ़्रॉक पहनाकर खिंचवाओ। फिर कैमरे में फ़िल्म डाले बिना बटन दबाता हूँ और दो-तीन दिन का भुलावा देकर इसी चित्र-जननी की एक कॉपी पकड़ा देता हूँ। हर बाप को इसमें अपनी सूरत नज़र आती है!"

दुर्घटनाएँ और आरंभिक क़ानूनी सहायता

हमारे पुराने जानने वालों में आग़ा अकेले आदमी हैं, जिनसे अभी तक हमारी बोल चाल है। इसका एकमात्र कारण मिर्ज़ा यह बताते हैं कि हमने कभी उनकी तस्वीर नहीं खींची, हालाँकि हमारी कलात्मक योग्यताओं से वे भी अपने तौर पर लाभान्वित हो चुके हैं। लाभान्वित होने की स्थिति यह थी कि एक इतवार को हम अपने "डार्क रूम" (जिसे सोमवार से शनिवार तक घर वाले गुसुलख़ाना कहते हैं) में अंधेरा किए एक मारपीट से भरपूर राजनीतिक सम्मलेन के प्रिंट बना रहे थे। घुप्प अंधेरे में एक मुन्ना सा सुर्ख बल्ब जल रहा था, जिससे बस इतनी रोशनी निकल रही थी कि वह ख़ुद नज़र आ जाता था। पहले प्रिंट पर काली झंडियाँ साफ़ नज़र आने लगी थीं, लेकिन लीडर का चेहरा किसी तरह उभर के नहीं देता था। लिहाज़ा हम उसे बार-बार चिमटी से तेज़ाबी घोल में डुबकियाँ दिए जा रहे थे। इतने में किसी ने फाटक की घंटी बजाई और बजाता चला गया। हम जिस समय चिमटी हाथ में लिए पहुँचे हैं, तो घर वाले ही नहीं, पड़ोसी भी दौड़कर आ गए थे। आग़ा ने हथेली से घंटी का बटन दबा रखा था और थरथराती-कंपकंपाती आवाज़ में उपस्थित जनों को बता रहे थे कि वे किस तरह अपनी सधी-सधाई व सीधी-सादी कार[1] में अपनी राह चले जा रहे थे कि एक ट्राम दनदनाती हुई "रांग-साइड" से आई और उनकी कार से टकरा गई। हमारे मुँह से कहीं निकल गया,

"मगर थी तो अपनी ही पटरी पर?"

तिनतिनाते हुए बोले,"जी, नहीं! टेक ऑफ़ करके आई थी!"

---

[1] इस पुरानी कार का रेखाचित्र दूसरे निबंध में देखिये। फ़िलहाल इतना संकेत काफ़ी होगा कि आग़ा इसमें निकलते हुए इतना झेंपते हैं कि कभी हॉर्न नहीं बजाते। आख़िर, ग़ैरों के तानों और अपनों की फ़ब्तियों से तंग आकर आग़ा एक दिन नई कार ख़रीदने निकले। बीसियों कारें देख डालीं। सिर्फ़ एक पसंद आई। कहने लगे "यह ठीक रहेगी। इसका बम्पर बहुत मज़बूत है!" सेल्स गर्ल ने साठ हज़ार चार सौ क़ीमत बताई। लेकिन सौदा न हो सका। इसलिए कि आग़ा का विचार था कि इस क़ीमत की कार को तो बिना पेट्रोल के चलना चाहिए। (ले.)

यह मौक़ा उनसे उलझने का नहीं था, इसलिए कि वे जल्दी मचा रहे थे। बक़ौल उनके रही सही इज़्ज़त कराची की मिट्टी में मिली जा रही थी और इसी को बचाने की ख़ातिर टक्कर होने से एक दो सेकेंड पहले ही वे कार से कूद कर ग़रीबख़ाने की तरफ़ रवाना हो गए थे ताकि चालान होते ही अपनी सफ़ाई में दलील नंबर 2 के तौर पर दुर्घटना का फ़ोटो फ़ोटोग्राफ़र समेत पेश कर सकें। दलील नंबर1 यह थी कि जिस क्षण कार ट्राम से टकराई, वे कार में मौजद ही नहीं थे।

हम जिस हाल में थे, उसी तरह कैमरा लेकर आग़ा के साथ हो लिये और हाँपते-काँपते दुर्घटना स्थल पर पहुँचे। देखा कि आग़ा की कार का बम्पर ट्राम के बम्पर पर चढ़ा हुआ है। अगला हिस्सा हवा में लटका है और एक लौंडा पहिया घुमा-घुमाकर दूसरे से कह रहा है, "अबे फ़ज़लू! इसके तो पहिए भी हैं!"

आग़ा का आग्रह था कि तस्वीरें ऐसे कोण से ली जाएँ, जिससे साबित हो कि पहले उत्तेजित ट्राम ने कार के टक्कर मारी। इसके बाद कार टकराई! वह भी सिर्फ़ स्वाधीनता की सुरक्षा में! हमने एहतियातन अभियुक्ता के हर पोज़ की तीन-तीन तस्वीरें ले लीं। ताकि उनमें तथाकथित कोण भी, अगर कहीं हो, तो आ जाए। दुर्घटना को "पिक्चराइज़" करते समय हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस पेशबंदी की बिल्कुल ज़रूरत न थी। इसलिए कि पीड़िता जिस कोण से अभियुक्ता पर चढ़ी थी और जिस पैंतरे से आग़ा ने ट्राम और क़ानून से टक्कर ली थी, उसे देखते हुए उनका चालान आत्महत्या का प्रयास करने के अपराध में भले ही हो जाए, ट्राम को नुक़सान पहुँचाने का सवाल पैदा नहीं होता था। इधर हम क्लिक-क्लिक तस्वीर पर तस्वीर लिए जा रहे थे, उधर सड़क पे तमाशाइयों का हुजूम था कि बढ़ता जा रहा था। हमने कैमरे में दूसरी फ़िल्म डाली और कार का "क्लोज़अप" लेने के लिए मिर्ज़ा हमें सहारा देकर ट्राम की छत पर चढ़ाने लगे। इतने में एक गबरू पुलिस सारजंट भीड़ को चीरता हुआ आया। आकर हमें नीचे उतारा और नीचे उतारके चालान कर दिया —सार्वजनिक स्थान पर भीड़ लगाके जानबूझकर रुकावट पैदा करने के इल्ज़ाम में! और बक़ौल मिर्ज़ा, वह तो बड़ी ख़ैरियत हुई कि वे वहाँ मौजूद थे। वर्ना हमें तो कोई ज़मानत देने वाला भी न मिलता। खिंचे-खिंचे फिरते।

दूसरा निकाह और यह निरीह

यह पहला और आख़री मौक़ा नहीं था कि हमने अपने तुच्छ आर्ट से क़ानून और इंसाफ़ के हाथों को मज़बूत किया। (माफ़ कीजिए। हम फिर अंग्रेज़ी वाक्य-रूप प्रयोग कर गए। मगर क्या किया जाए, अंग्रेज़ों से पहले ऐसा बिजोग भी तो नहीं पड़ता था) अपने बेगानों ने अक्सर यह सेवा बिना मज़दूरी दिए हम से ली है। तीन साल पहले का ज़िक्र है। विवाह क़ानून (जिसे मिर्ज़ा विवाह रोकथाम अधिनियम कहते हैं) का कार्यान्वयन अभी नहीं हुआ था। मगर प्रेस में इसके समर्थन में लेख और भाषण धड़ा-धड़ छप रहे थे। जिनके गुजराती अनुवादों से गड़-बड़ाकर "बनोला किंग" सेठ अब्दुल ग़फ़ूर इब्राहीम हाजी मोहम्मद इस्माईल यूनुस छाबड़ी वाला एक लड़की से चोरी छुपे निकाह कर बैठे थे। हुलिया न पूछें तो बेहतर है। बुद्धिमानों को इतना इशारा काफ़ी होना चाहिए कि अगर हम उनका हुलिया ठीक-ठीक बताने लगें तो मिर्ज़ा चीख़ उठेंगे, "साहब! यह हास्य-व्यंग्य नहीं है!"

इससे यह न समझा जाए कि हम उनको तुच्छ समझते हैं। हरगिज़ नहीं। हमने कुछ अरसे से यह उसूल बना लिया है कि किसी इंसान को तुच्छ नहीं समझना चाहिए। इसलिए कि हमने देखा कि जिस किसी को हमने तुच्छ समझा, वह तुरंत तरक़्क़ी कर गया। हाँ तो हम यह कह रहे थे कि जिस दिन से बहुविवाह क़ानून लागू होने वाला था, उसकी "चाँद रात" को सेठ साहब ग़रीबख़ाने पर तशरीफ़ लाए। बेहद घबराहट की हालत में। उनके साथ उनकी घबराहट की वजह भी थी, जो काले बुर्क़े में थी और बहुत ख़ूब थी।

रात के दस बज रहे थे। और कैमरा, स्क्रीन और प्रकाश ठीक करते-करते ग्यारह बज गए। घंटा भर तक सेठ साहब CANDID FIGURE STUDIES को इस तरह घूरते रहे कि पहली बार हमें अपनी कला से लाज आने लगी। फ़रमाया, "अजुन बिगड़ेली बाइयों की फोटोग्राफ लेने में तो तुम एक नंबर उस्ताद हो। पन कोई भैन-बेटी कपड़े पहनकर फ़ोटो खिंचवाए तो क्या तुमेरा कैमरा काम करेंगा?" हमने कैमरे के सात्विक आचरण का आश्वासन दिया और तिपाई रखी। तिपाई पर सेठ साहब को खड़ा किया और उनके बाएँ पहलू में दुल्हन को (सैंडल उतरवाकर) खड़ा करके फ़ोकस कर रहे थे कि वे तिपाई से छलाँग लगाकर हमारे पास आए और टूटी-फूटी उर्दू में, जिसमें गुजराती से अधिक घबराहट की मिलावट थी, विनती की कि सुरमई पर्दे पर आज की तारीख़ कोयले से लिख दी जाए और फ़ोटो इस तरह लिया जाए कि तारीख़ साफ़ पढ़ी जा सके। हमने कहा, सेठ! इसकी क्या तुक है? तिपाई पर वापस चढ़के उन्होंने बड़े ज़ोर से हमें आँख मारी और अपनी टोपी की तरफ़ ऐसी बेकसी से संकेत किया कि हमें उनके साथ अपनी इज़्ज़त-आबरू भी मिट्टी में मिलती नज़र आई। फिर सेठ साहब अपना बायाँ हाथ दुल्हन के कंधे पर मालिकाना अंदाज़ से रखकर खड़े हो गए। दायाँ हाथ अगर और लम्बा होता तो बा-ख़ुदा उसे भी वहीं रख देते। फ़िलहाल उसमें जलता हुआ सिगरेट पकड़े हुए थे। हमारा "रेडी" कहना था कि तिपाई से फिर छलाँग लगाकर हमसे लिपट गए। या अल्लाह! ख़ैर! अब क्या लफड़ा है सेठ? मालूम हुआ, अब की दफ़ा अपनी आँखों से यह देखना चाहते थे कि वे कैमरे में कैसे नज़र आ रहे हैं ! विनती, खुशामद करके फिर तिपाई पर चढ़ाया और इससे पहले कि घड़याल रात के बारह बजाकर नई सुबह और विवाह रोकथाम अधिनियम के क्रियान्यवन की घोषणा करे, हमने उनके गुप्त प्रणय-सूत्र बंधन का अतिरिक्त दस्तावेज़ी सुबूत कोडक फ़िल्म पर सुरक्षित कर लिया।

असल दुश्वारी यह थी कि तस्वीर खींचने और खिंचवाने के शिष्टाचार से सम्बंधित जो निर्देश सेठ साहब गुजराती भाषा या संकेतों से देते रहे, उनका मंशा कम-से-कम हमारी अल्पबुद्धि में यह आया कि दुल्हन सिर्फ़ उस पल नक़ाब उल्टे जब हम बटन दबाएँ और जब हम बटन दबाएँ तो ऐनक उतार दें। उनका बस चलता तो कैमरे का भी 'लेंस' उतरवाकर तस्वीर खिंचवाते।

रात की जगार से तबीयत सारा दिन सुस्त रही। लिहाज़ा दफ़्तर से दो घंटे पहले ही उठ गए। घर पहुँचे तो नवविवाहित सेठ महोदय को बरामदे में टहलते हुए पाया। गर्दन झुकाए, हाथ पीछे को बाँधे, बेक़रारी के आलम में टहले चले जा रहे थे। हमने कहा,

"सेठ अस्सलामु-अलैकुम!"

बोले, "बालैकुम! पन फिलम को स्नान कब कराएँगा?"

हमने कहा, "अभी लो, सेठ!"

फिर उन्होंने इच्छा व्यक्त की कि उनकी जीवन साथी की तस्वीर को उनकी मौजूदगी में "स्नान" कराया जाए। हमने जगह की तंगी का बहाना किया, जिसके जवाब में सेठ साहब ने हमें बिनोले की एक बोरी देने का लालच दिया। जितनी देर तक फ़िल्म डिवलेप होती रही, वे फ़्लश की ज़ंजीर से लटके, इस पापी की गतिविधियों की कड़ी निगरानी करते रहे।

हम "फ़िक्सर" में अंतिम डूब दे चुके तो उन्होंने पूछा,

"क्लियर आई है?"

अर्ज़ किया, "बिल्कुल साफ़।"

लकड़ी के चिमटे से टपकती हुई फ़िल्म पकड़के हमने उन्हें भी देखने का मौक़ा दिया। शार्क स्किन का कोट ही नहीं, ब्रेस्ट पॉकेट के बटुवे का उभार भी साफ़ नज़र आ रहा था। तारीख़ निगेटिव में उल्टी थी, मगर साफ़ पढ़ी जा सकती थी। चेहरे पर भी बक़ौल उनके काफ़ी रोशनाई थी। उन्होंने जल्दी-जल्दी दुल्हन की अंगूठी के नग गिने और उन्हें पूरे पाकर ऐसे संतुष्ट हुए कि चुटकी बजाकर सिगरेट छंगुलिया में दबा के पीने लगे। बोले,

"मिश्टर! यह तो सोलह आने क्लियर है। आँख, नाक, जेब पॉकेट, एक-एक नग चुगती संभाल लो। अपने बही-खाते के मवाफिक! अजुन अपनी ओमेगा वाच की सुई भी बरोबर ठीक टैम देती पड़ी है। ग्यारह क्लॉक और अपुन के हाथ में जो एक ठू सिगरेट जलता पड़ा है, वह भी साला एक दम लैट मारता है।" यह कहकर वे किसी गहरी सोच में डूब गए। फिर एक झटके से चेहरा उठाकर कहने लगे, "बड़े साहब! इस सिगरेट पे जो साला K2 लिखेला है, उसकी जगह Player's No.3 बना दो नी!"

दरबार-ए-अकबरी में हाज़िरी

ख़ैर, यहाँ तो मामला सिगरेट ही पर टल गया, वर्ना हमारा अनुभव है कि सौ प्रतिशत पुरुष और निन्नानवे प्रतिशत महिलाएँ तस्वीर में अपने आपको पहचानने से साफ़ इनकार कर देते हैं। बाक़ी रहे एक प्रतिशत। सो उन्हें अपने कपड़ों के कारण अपना चेहरा क़ुबूलना पड़ता है। लेकिन अगर इत्तेफ़ाक़ से कपड़े भी अपने न हों तो फिर शौक़िया फ़ोटोग्राफ़र को चाहिए कि और रूपया बरबाद करने का कोई और शौक़ तलाश करे, जिसमें कम-से-कम मार-पीट की संभावना तो न हो। इस कला में कुशल न होने वालों की आँखें खोलने के लिए हम सिर्फ़ एक घटना बयान करते हैं। पिछले साल बग़दादी जिमख़ाना में तंबूले[5] से तबाह होने वालों की मदद के लिए पहली अप्रैल को "अकबर-ए-आज़म" खेला जाने वाला था और पब्लिसिटी कमिटी ने हमसे अनुरोध किया था कि हम ड्रेस रिहर्सल की तस्वीरें खींचें ताकि अख़बारों को दो दिन पहले उपलब्ध कराई जा सकें।

हम ज़रा देर से पहुँचे। चौथा सीन चल रहा था। अकबर-ए-आज़म दरबार में विराजमान थे और उस्ताद तानसेन बेन्जो पर हज़रत 'फ़िराक़' गोरखपुरी की सेह-ग़ज़ला[6] राग मालकोस में गा रहे थे। जो हज़रात कभी इस राग या किसी सह-ग़ज़ला की लपेट में आ चुके हैं, कुछ वे ही अंदाज़ा लगा सकते हैं कि अगर ये दोनों

एक जगह हो जाएँ तो इनकी संगत क्या क़यामत ढाती है। अकबर-ए-आज़म का पार्ट जिमख़ाने के प्रोपैगंडा सेक्रेट्री सिब्ते (शेख़ सिब्ग़तुल्लाह) अदा कर रहे थे। सिर पर टीन का कृत्रिम ताज चमक रहा था, जिसमें से अब तक असली घी की लपटें आ रही थीं। शाही ताज पर शीशे के पेपर वेट का कोहेनूर हीरा जगमगा रहा था। हाथ में उसी धातु यानी असली टीन की तलवार। जिसे घमसान का रन पड़ते ही दोनों हाथों से पकड़ के वे कुदाल की तरह चलाने लगे। आगे चलकर हल्दीघाटी की लड़ाई में यह तलवार टूट गई तो ख़ाली म्यान से शूरवीरता का प्रदर्शन कर रहे हैं। आख़िरकार यह भी जवाब दे गई क्योंकि राणा प्रताप का सिर इससे भी सख़्त निकला। फिर महाबली इसकी अंतिम पच्चर दर्शकों को दिखाते हुए शस्त्रागार के दारोग़ा को समसामयिक गालियाँ देने लगे। आदत के अनुसार गुस्से में आपे से बाहर हो गए। लेकिन आदत के अनुसार, मुहावरे को हाथ से न जाने दिया। दूसरे सीन में शहज़ादा सलीम को आड़े हाथों लिया। सलीम अभी अनारकली पर अपना समय बरबाद कर रहा था। उसका जहाँगीरी, बल्कि नूरजहाँगीरी युग अभी आरम्भ नहीं हुआ था। डाँट-फटकार के दौरान ज़िल्ले-सुब्हानी (अकबर) ने अपने कर-कमलों से एक तमांचा भी मारा जिसकी आवाज़ अंतिम पंक्ति तक सुनी गई। तमांचा तो अनारकली के गाल पर भी मारा था, मगर उसका ज़िक्र हमने दूरदर्शिता के नाते नहीं किया, क्योंकि यह महाबली ने कुछ इस अंदाज़ से मारा कि पास से तो कम-से-कम हमें यही लगा कि वे दो मिनट तक अनारकली का मेकअप से तमतमाता हुआ मुखड़ा सहलाते रहे।

पाँचों उंगलियों पर गाल के निशान बन गए थे!

अकबरः शेखू! अनारकली का सिर तेरे क़दमों पर है, मगर उसकी नज़र ताज पर है।

सलीमः मुहब्बत अंधी होती है आलम पनाह!

अकबरः मगर इसका यह मतलब नहीं कि औरत भी अंधी होती है!

सलीमः लेकिन अनारकली औरत नहीं, लड़की है, आलम पनाह!

अकबरः (आस्तीन और तेवरी चढ़ाकर) ऐ ख़ानदान-ए-तैमूरिया की आख़री निशानी! ऐ नालायक़, मगर (कलेजा पकड़के) इकलौती औलाद! याद रख मैं तेरा बाप भी हूँ और वालिद भी!

इस नाटकीय रहस्योद्घाटन को नई नस्ल की आगाही के लिए रिकॉर्ड करना अत्यंत आवश्यक था। अतः हम कैमरे में "फ़्लैश-गन" फ़िट करके आगे बढ़े। यह अहसास हमें बहुत बाद में हुआ कि जितनी देर हम फ़ोकस करते रहे, महाबली अपना शाही दायित्व यानी डाँट-डपट छोड़-छाड़कर साँस रोके खड़े रहे। वे जो एकाएक ख़ामोश हुए तो पिछली सीटों से तरह-तरह की आवाज़ें आने लगींः

"अबे! डायलॉग भूल गया क्या?"

"तमांचा मार के बेहोश हो गया है!"

"महाबली! मुँह से बोलो।"

अगले सीन में फ़िल्मी तकनीक के मुताबिक़ एक "फ़्लैश-बैक" था। महाबली की जवानी थी और उनकी मूँछों पर अभी पाउडर नहीं बुरका गया था। महान बाग़ी, हेमू बक्क़ाल (दर्शकों की तरफ़ मुँह करके) सजदे में

पड़ा था और हज़रत ज़िल्ले-सुब्हानी (अकबर) तलवार सोंते भुट्टा सा उसका सिर उड़ाने जा रहे थे। हम भी फ़ोटो खींचने लपके। लेकिन फ़ुट लाइट्स से कोई पाँच गज़ दूर होंगे कि पीछे से आवाज़ आई — "बैठ जाओ, यूसुफ़ कार्श!" और इसके फ़ौरन बाद एक निर्दयी हाथ ने बड़ी बे-दर्दी से पीछे कोट पकड़ के खींचा। पलट के देखा तो मिर्ज़ा निकले। बोले,"अरे साहब! ठीक से क़त्ल तो कर लेने दो। वर्ना साला उठके भाग जाएगा और बग़ावत का झंडा बुलंद करेगा!"

दूसरे ऐक्ट में कोई उल्लेखनीय घटना यानी हत्या नहीं हुई। पाँचों दृश्यों में शहज़ादा सलीम, अनारकली को इस तरह हाल-ए-दिल सुनाता रहा, जैसे इमला लिखवा रहा है। तीसरे ऐक्ट में सिब्गे, हमारा मतलब है ज़िल्ले-सुब्हानी, शाही पेचवान (हुक़्क़ा) की गज़ों लम्बी रबर का नैचा (जिससे दिन में जिमख़ाना के लॉन को पानी दिया गया था) हाथ में थामे अनारकली पर बरस रहे थे और हम दर्शकों की हूटिंग के डर से "विंग" में दुबके हुए इस सीन को फ़िल्मा रहे थे कि सामने की "विंग" से एक दुधमुंहा बच्चा स्टेज पर घुटनियों चलता हुआ आया और गला फाड़-फाड़के रोने लगा। आख़िरकार मामता ने इश्क़ और अदाकारी को शिकस्त दी और उस शीलवती ने शाही सिंहासन की ओट में दर्शकों की ओर पीठ करके उसका मुँह प्राकृतिक भोजन से बंद किया। उधर महाबली खून के से घूँट पीते रहे। हमने बढ़कर पर्दा गिराया।

अंतिम ऐक्ट के अंतिम सीन में अकबर-ए-आज़म का जनाज़ा बैंड बाजे के साथ बड़े धूम धड़क्के से निकला। जिसे फ़िल्माने के बाद हम ग्रीन-रूम में गए और सिब्गे को बधाई दी कि इससे बेहतर मुर्दे का पार्ट आज तक हमारी नज़र से नहीं गुज़रा। उन्होंने बतौर-शुक्रिया कोरे कफ़न से हाथ निकालकर हमसे मिलाया।

हमने कहा, "सिब्गे! और तो जो कुछ हुआ, सो हुआ, मगर अकबर कोहेनूर हीरा कब लगाता था?"

कहने लगे, "जभी तो हमने नक़ली कोहेनूर लगाया था!"

"डिवेलपर" को बर्फ़ से 70 डिग्री ढंडा करके हमने रातों रात फ़िल्म डिवेलप की और दूसरे दिन वादे के मुताबिक़ तस्वीरों के प्रूफ़ दिखाने जिमख़ाना पहुँचे। घड़ी हमने आज तक नहीं रखी। अंदाज़न रात के ग्यारह बज रहे होंगे। इसलिए कि अभी तो डिनर की मेज़ें सजाई जा रही थीं, और उनको सुशोभित करने वाले सदस्यगण "रेनबो-रुम" (बार) में ऊँचे-ऊँचे स्टूलों पर टंगे न जाने कब से हमारी राह देख रहे थे। जैसे ही सदस्यगण हमारे जाम-ए-सहत की आख़िरी बूंद पी चुके, हमने अपने चमड़े के बैग से "रश प्रिंट" निकालकर दिखाए — और साहब! वह तो खुदा ने बड़ी मेहरबानी की कि उनमें से एक भी खड़े होने के क़ाबिल न था वर्ना हर मेम्बर, क्या मर्द, क्या औरत, आज हमारे क़त्ल में गिरफ़्तार होता।

ज़िल्ले-सुब्हानी ने फ़रमाया, "हमने अनारकली को उसके पथभ्रष्ट होने पर डाँटते समय आँख नहीं मारी थी।"

शहज़ादा सलीम अपना फ़ोटो निरीक्षण करके कहने लगे कि "यह तो निगेटिव है!"

शेख़ अबुल फ़ज़ल ने कहा, "नूरजहाँ, शेर-अफ़गन की विधवा, तस्वीर में सिर से पैर तक मर्द-अफ़गन (मर्द को पछाड़ने वाली) नज़र आती है।"

राजा मानसिंह कड़ककर बोले कि "हमारे बारीक मलमल के अंगरखे में टोडरमल की पस्लियाँ कैसे नज़र आ रही हैं?"

मुल्ला दो प्याज़ा ने पूछा, "यह मेरे हाथ में दस उंगलियाँ क्यों लगा दीं आपने?"

हमने कहा, "आप हिल जो गए थे।"

बोले, "बिल्कुल ग़लत। खुद आपका हाथ हिल रहा था। बल्कि मैंने हाथ से आपको इशारा भी किया था कि कैमरा मज़बूती से पकड़िए।"

अनारकली की माँ[1] जो बड़े कल्ले-ठल्ले की औरत हैं, तुनककर बोलीं, "अल्लाह न करे, मेरी चाँद सी बन्नो ऐसी हो।" (उनकी बन्नो के चेहरे को अगर वाक़ई चाँद से उपमा दी जा सकती थी, तो यह वह चाँद था, जिसमें बुढ़िया बैठी चरखा कातती नज़र आती है।)

सारांश यह कि हर शख़्स शिकायत से भरा, हर शख़्स ख़फ़ा। अकबर-ए-आज़म के नवरत्न तो नवरत्न, ख़्वाजासरा (हिजड़ा) तक हमारे ख़ून के प्यासे हो रहे थे।

पैदा होना पैसा कमाने के अवसर का

हमसे जिमख़ाना छूट गया। औरों से क्या गिला, सिब्गे तक खिंचे-खिंचे रहने लगे। हमने भी सोचा, चलो तुम रूठे, हम छूटे। हाय अफ़सोस कि उनकी ख़फ़गी और हमारी बेफ़िक्री बहुत संक्षिप्त साबित हुई। क्योंकि दस पंद्रह दिन बाद उन्होंने अपने फ़्लैट स्थित छठी मंज़िल पर "सिब्गे एडवरटाइज़र (पाकिस्तान) प्राइवेट लिमटेड" का भड़कीला सा साइन बोर्ड लगा दिया, जिसे अगर बीच सड़क पर लेटकर देखा जाता तो साफ़ नज़र आता। दूसरा नेक काम उन्होंने यह किया कि हमें एक नए साबुन "स्कैंडल सोप" के विज्ञापन के लिए तस्वीर खींचने पर कमीशन (नियुक्त) किया। अजीब संजोग है कि हम खुद कुछ अरसे से बड़ी शिद्दत से महसूस कर रहे थे कि हमारे यहाँ औरत, इबादत और शराब को अब तक क्लोरोफ़ार्म की जगह इस्तेमाल किया जाता है। यानी पीड़ा व यातना-वेदना मिटाने के लिए, न कि मस्ती व आनंद के लिए। इसी संवेदना को सुन्न कर देने वाली पिनक की तलाश में थके हारे ललित कला तक पहुँचते हैं और यह ज़ाहिर सी बात है कि ऐसी विलासिता को आजीविका का साधन नहीं बनाया जा सकता। अतः पहली ही बोली पर हमने अपनी कला सामग्री से पीछा छुड़ाने का फ़ैसला कर लिया। फिर मुआवज़ा भी माक़ूल था। यानी ढाई हज़ार रूपये। जिसमें से तीन रूपये नक़द उन्होंने हमें उसी समय अदा कर दिए। और उसी रक़म से हमने गेवर्ट की 27 डिग्री की मंदगति फ़िल्म ख़रीदी, जो त्वचा के निखार और नर्मी को अपने अंदर धीरे-धीरे समो लेती है। "चेहरा" उपलब्ध करने की ज़िम्मेदारी स्कैंडल सोप

[1] अनारकली की माँ: ये स्वयं भी एक ज़माने में यहूदी की लड़की भूमिका अदा कर चुकी हैं।
यादें बीते दिनों की! इसी भूमिका में मिर्ज़ा का दिल उन पर आया था। अब भी अनगिनत "अलौकिक" चित्र महोदय के अल्बम में उन दिनों की याद ताज़ा करती हैं, जब मिर्ज़ा दर्शनशास्त्र में एम.ए.करने के बाद दर्शन की विदग्धता को अपनी मूर्खताओं से शीतलता प्रदान कर रहे थे। (ले.)

बनाने वोलों के सिर थी। तस्वीर की पहली और अंतिम शर्त यह थी कि "सेक्सी" हो। इस सुन्दर लक्ष्य के लिए जिस ख़ातून की ख़िदमतें पेश की गईं, वे बुर्क़े में निहायत भली मालूम होती थीं। बुर्क़ा उतरने के बाद खुला कि

खूब था पर्दा, निहायत मसलेहत की बात थी

सेक्स-अपील तो एक तरफ़ रही, उस दुखिया के तो मुँह में मक्खन भी नहीं पिघल सकता था। अलबत्ता दूसरी 'मॉडल' का अल्प-वस्त्र अपनी विषयवस्तुओं को छिपाने में विशेष कारणों से असमर्थ था। हमने चंद रंगीन "शॉट" तीखे-तीखे कोणों से लिये और तीन-चार दिन बाद मिर्ज़ा को प्रोजेक्टर से TRANSPARENCIES दिखाईं। कोडक के रंग दहक रहे थे। शरीर के उद्दंड उभार और कटाव पुकार-पुकारकर ऐलान-ए-जोबन कर रहे थे। हमने इस पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट कराया तो फ़रमाया, यह ऐलान-ए-जोबन है या कपड़े के उद्योग के ख़िलाफ़ ऐलान-ए-जंग?

तीसरी "सिटिंग"(बैठक) से दस मिनट पहले मिर्ज़ा वादे के मुताबिक़ हमारी कुमुक पर आ गए। सोचा था, कुछ नहीं तो दुसराथ रहेगी। फिर मिर्ज़ा का अनुभव, उन मौलिक ग़लतियों के कारण, जो वे करते रहे हैं, हमसे कहीं अधिक व्यापक और रंग-बिरंगा है। लेकिन उन्होंने तो आते ही आफ़त मचा दी। असल में वे अपने नये "रोल" (हमारे कला सलाहकार) में फूले नहीं समा रहे थे। अब समझ में आया कि नया नौकर दौड़कर हिरन के सींग क्यों उखाड़ता है और अगर हिरन भी नया हो तो

असदुल्लाह ख़ाँ क़यामत है![7]

वैसे भी मेकअप वग़ैरह के बारे में उनके कुछ पूर्वाग्रह हैं, जिन्हें इस समय 'मॉडल' के चेहरे पर थोपना चाहते थे (मसलन काली औरतों के बारे में उनका विचार है कि उन्हें सफ़ेद सुर्मा लगाना चाहिए। अधेड़ मर्द के दाँत बहुत उजले नहीं होने चाहिएँ, वर्ना लोग समझेंगे की नक़ली हैं। और इसी तरह के और बहुत से विचार)।

बोले, "लिपस्टिक पर वैस्लीन लगवाओ। इससे होंठ VOLUPTUOUS मालूम होन लगेंगे। आजकल के मर्द उभरे-उभरे गुर्दा जैसे होंठ पे मरते हैं। और हाँ यह फटीचर ऐनक उतार के तस्वीर लो।"

हमने लड़ाई-झगड़े से बचने के लिए तुरंत ऐनक उतार दी।

बोले, "साहब! अपनी नहीं इसकी।"

उसके बाद फ़रमाया, "फ़ोटो के लिए नई और चमकीली साड़ी बिल्कुल मुनासिब नहीं। ख़ैर। मगर कम-से-कम सैंडल तो उतार दो। पुराना-पुराना लगता है।"

हमने कहा, "तस्वीर चेहरे की ली जा रही है, न कि पैरों की।"

बोले, "अपनी टाँग न अड़ाओ। जैसे उस्ताद कहता है वही करो।"

हमने बेगम का शैम्पेन के रंग का नया सैंडल लाकर दिया। और यह अजीब बात है कि उसे पहनकर उसके "एक्सप्रेशन" में एक विशेष गरिमा आ गई।

बोले, "साहब! यह तो जूता है। अगर किसी के बनियान में छेद हो तो उसका असर भी चेहरे के एक्सप्रेशन पर पड़ता है।"

यह नुक्ता बयान करके वे हमारे चेहरे की तरफ़ देखने लगे।

आँखें मेरी बाक़ी उनका

एड़ी से चोटी तक सौन्दर्य-संशोधन करने के बाद उसे सामने खड़ा किया और वह प्यारी-प्यारी नज़रों से कैमरे को देखने लगी तो मिर्ज़ा फिर बीन बजाने लगे,

"साहब! यह फ्रंट पोज़, यह दो कानों बीच एक नाक वाला पोज़, सिर्फ़ पास्पोर्ट में चलता है। आपने यह नहीं देखा कि इसकी गर्दन लंबी है और नाक का कट यूनानी। चेहरा साफ़ कहे देता है कि मैं सिर्फ़ प्रोफ़ाइल के लिए बनाया गया हूँ।"

हमने कहा,"अच्छा, बाबा! प्रोफ़ाइल ही सही।"

इस तकनीकी समझौते के बाद हमने तुरत-फुरत कैमरे में "क्लोज़अप लेंस" फ़िट किया। सुरमई पर्दे को दो क़दम पीछे खिसकाया। सामने एक हरा कांटेदार "कैक्टस" रखा और उस पर पाँच सौ वाट की स्पॉट- लाइट डाली। उसकी ओट में गालों के फूल। हल्का सा आउट-ऑफ़-फ़ोकस ताकि बदन के उभार व कटाव और मुलायम हो जाएँ। वह दसवीं दफ़ा तनकर खड़ी हुई। सीना आकाश की ओर खिंचा हुआ, निचला होंठ सोफ़िया लॉरेन की तरह आगे को निकाले। आँखों में "इधर देखो मेरी आँखों में क्या है" वाला भाव लिये और मीठी-मीठी रोशनी में बल खाते हुए बदन के उभार फिर गीत गाने लगे। रंग फिर कूकने लगे। अंतिम बार हमने दृश्यदर्शी से और मिर्ज़ा ने कपड़ों से पार होती हुई दृष्टि से देखा। मुस्कुरती हुई तस्वीर लेने के उद्देश्य से हमने मॉडल को अंतिम व्यावसायिक निर्देश दिए कि जब हम बटन दबाने लगें तो तुम हौले-हौले कहती रहना,

"चीज़,चीज़,चीज़,चीज़।"

यह सुनना था कि मिर्ज़ा ने हमारा हाथ पकड़ लिया और उसी तरह बरामदे में ले गए।

बोले, "कितने बाल सफ़ेद करके सीखी है यह ट्रिक? क्या रेड़ मारी है, मुस्कुराहट की! साहब! हर चेहरा हँसने के लिए नहीं बनाया गया! विशेष रूप से प्राच्य चेहरा। कम-से-कम यह चेहरा!"

हमने कहा, "जनाब! औरत के चेहरे पर प्राच्य-पाश्चात्य बताने वाला क़ुतुबनुमा (दिशासूचक यंत्र) थोड़ा ही लगा होता है। यह तो लड़की है। बुद्ध तक के होंठ मुस्कान से मुड़े हुए हैं। लंका में नारियल और पाम के पेड़ों से घिरी हुई एक नीली झील है, जिसके बारे में यह कहावत चली आती है कि उसके पानी में एक दफ़ा गौतमबुद्ध ने अपना चेहरा देखकर यूँही मुस्कुरा दिया था। अब ठीक उसी जगह एक सुन्दर मंदिर है जो उस मुस्कान की याद में बनाया गया है।"

मिर्ज़ा ने वहीं बात पकड़ ली। बोले,

"साहब! गौतमबुद्ध की मुस्कान और है, मोनालिज़ा की और! बुद्ध अपने आप पर मुस्कुराया था। मोनालिज़ा दूसरों पर मुस्कुराती है। शायद अपने पति की मूढ़ता पर! बुद्ध की मूर्तियाँ देखो। मुस्कुराते हुए उसकी आँखें झुकी हुई हैं। मोनालिज़ा की खुली हुई। मोनालिज़ा होंठों से मुस्कुराती है। उसका चेहरा नहीं हँसता। उसकी आँखें नहीं हँस सकतीं। उसके विपरीत अजंता की स्त्री को देखो। उसके लब बंद हैं। मगर बदन

के कटाव और उभार खुल खेलते हैं। वह अपने समूचे बदन से मुस्कुराना जानती है। होंठों की कली तनिक भी नहीं खिलती, फिर भी उसका हरा भरा बदन, उसका अंग-अंग मुस्कुरा उठता है।"

हमने कहा, "मिर्ज़ा! इसमें अजंता-एलोरा की इजारादारी नहीं। बदन तो मार्लिन मुनरो का भी खिलखिलाता था!"

बोले, "कौन मसख़रा कहता है? वह ग़रीब उम्र भर हँसी और हँसना न आया। साहब! हँसना न आया, इसलिए कि वह जनम-जनम की निंदासी थी। उसका रोवाँ-रोवाँ बुलावे देता रहा। उसका सारा अस्तित्व, एक-एक पोर, एक-एक रोम-छिद्र--

इंतिज़ार-ए-सैद में इक दीदा-ए-बे-ख़्वाब था
(अपने शिकार के इंतज़ार में एक खुली हुई आँख था)

वह अपने छतनार शरीर, अपने सारे बदन से आँख मारती थी। मगर हँसी? उसकी हँसी एक स्वाद भरी सिसकी से कभी आगे न बढ़ सकी। अच्छा। आओ। अब मैं तुम्हें बताऊँ कि हँसने वालियाँ कैसे हँसा करती हैं:

जात हती इक नार अकेली, सो बीच बजार भयो मुजराए
आप हँसी, कछू नयन हँसे, कछू नयन बीच हँस्यो कजराए
हार के बीच हुमेल हँसी, बाजू बंदन बीच हँस्यो गजराए
भौहें मरोर के ऐसी हँसी जैसे चंद्र को दाब चल्यो बदराए"

मिर्ज़ा ब्रजभाषा की इस चौपाई का अंग्रेज़ी में अनुवाद करने लगे और हम कान लटकाए सुनते रहे। लेकिन अभी वे तीसरी पंक्ति का ख़ून नहीं कर पाए थे कि सिब्ते के सब्र व संयम का पैमाना छलक गया। क्योंकि 'मॉडल' सौ रूपये प्रति घंटा के हिसाब से आई थी और डेढ़ सौ रूपये गुज़र जाने के बावजूद अभी पहली क्लिक की नौबत नहीं आई थी।

तस्वीरें कैसी आईं? तीन कम ढाई हज़ार रूपये वसूल हुए या नहीं? विज्ञापन कहाँ छपा? लड़की का फ़ोन नंबर क्या है? स्कैंडल सोप फ़ैक्ट्री कब नीलाम हुई? इन सारे सवालों के जवाब, हम इंशाअल्लाह, बहुत जल्द एक लेख के द्वारा देंगे। फ़िलहाल पाठकों को यह मालूम करके ख़ुशी होगी कि मिर्ज़ा के जिस पाले-पोसे कैक्टस को हमने दिव्य-मुखड़े के आगे रखा था, उसे फ़रवरी में फूलों की नुमाइश में पहला पुरस्कार मिला।

(ख़ाकम बदहन - 1964)

अनुवादकः डॉक्टर आफ़ताब अहमद
वरिष्ठ प्राध्यापक, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क

[1] चंद तस्वीर-ए-बुताँ और हसीनों के ख़ुतूत
बाद मरने के मेरे घर से यह सामाँ निकला (मिर्ज़ा ग़ालिब)

[2] सीखे हैं महरुख़ों के लिए हम मुसव्विरी
तक़रीब कुछ तो बहर-ए-मुलाक़ात चाहिए (मिर्ज़ा ग़ालिब)

[3] मौलाना 'हसरत' मोहानीः (1875-1951); उर्दू शायर, पत्रकार और "इंक़लाब ज़िन्दाबाद" का नारा देने वाले स्वतंत्रता संग्रामी। अगले वाक्य में 'हसरत' के निम्नलिखित शेर की ओर संकेत हैः

है मश्क़-ए-सुख़न जारी चक्की की मशक़्क़त भी
इक तुरफ़ा तमाशा है 'हसरत' की तबीयत भी

[4] फ़र्ज़ें : फ़र्ज़ नमाज़ें जिनका पढ़ना अनिवार्य है; सुन्नतें : सुन्नत नमाज़ें जो फ़र्ज़ नमाज़ों से कम ज़रूरी हैं। (अनु.)

[5] तम्बूलाः तफ़रीह में या बाज़ी लगाकर खेला जाने वाला एक खेल जिस का मूल फ़्रांसीसी 'बिंगो' या लूडो है। (अनु.)

[6] सेह- ग़ज़लाः एक ही छंद, रदीफ़ और काफ़िया में दो तीन ग़ज़लें। (अनु.)

[7] मिर्ज़ा असदुल्लाह खां ग़ालिब के निम्नलिखित शेर की ओर संकेतः

तर्ज़े-बेदिल में रेख़्ता कहना
असदुल्लाह ख़ाँ क़यामत है

अर्थात बेदिल (फ़ारसी कवि) की शैली में उर्दू में शेर की रचना करना बहुत कठिन/कमाल है। (अनु.)